Origin of Political Institution in Ancient India, Concept of Dandaniti, Types of States

Dr. Dilip Kumar
Assistant Professor (Guest)
Dept. of Ancient Indian History & Archaeology,
Patna University, Patna
Paper – 104 (8), Polity, Sem. – IV

प्राचीन भारत में राज्य संस्था की उत्पत्ति के :

प्राचीन भारत में प्रारंभ से ही सामाजिक व्यवस्था एवं सुरक्षा को बनाये रखने के लिये राज्य की आवश्यकता को समझा गया था। ऐसी अवधारणा थी, कि यदि राज्य अपराधियों को दंड नहीं देता तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। राजदंड के डर से ही मनुष्य न्याय के मार्ग पर चलते हैं तथा न्याय ही उनका रक्षक हैं। **महाभारत** में कहा गया है, कि यदि दंडधारक राजा पृथ्वी पर न हो तो सबल निर्बल का भक्षण उसी प्रकार करेंगे जिस प्रकार जल में बडी मछली छोटी मछली का भक्षण करती है। कौटिल्य ने भी इस मत की पुष्टि करते हुये इसी प्रकार के विचार व्यक्ति किये हैं- व्यवस्था के अभाव में मत्सयन्याय की स्थिति उत्पन्न होती है, जैसे बडी मछलियाँ, छोटी मछलियों को खा जाती हैं, वैसे ही बलवान मनुष्य निर्बलों को खा जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन भारतीय मनीषियों ने सुशासन के लिये राज्य एवं राजा के अस्तित्व को अपरिहार्य माना है।

राज्य संस्था की उत्पत्ति- राज्य की उत्पत्ति से संबंधित प्रामाणिक सामग्रियों का अभाव है। विभिन्न समय में विभिन्न विचारकों ने इस समस्या पर प्रकाश डाला है। यहाँ हम कुछ प्रमुख सिद्धातों पर चर्चा करेंगे-

दैवी उत्पत्ति :-

भारतीय संस्कृति धर्मप्राण है, जहाँ प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के पीछे ईश्वर की सत्ता अथवा प्रेरणा को स्वीकार किया गया है। राज्य संस्था भी इसका अपवाद नहीं है। इसकी उत्पत्ति संबंधी परंपरागत मत इसे दैवी मानता है। इस प्रकार के विचार हमें प्राचीन साहित्य में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं।ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है, कि देवासुर संग्राम में देवता बारंबार पराजित होते गये। तब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि राजा के अभाव में उनकी पराजय हो रही है। अतः उन्होंने **सोम** को अपना राजा बनाकर उसके नेतृत्व में विजय प्राप्त की। एक अन्य स्थान पर वर्णित है कि सभी देवताओं ने मिलकर इंद्र को राजा बनाया था।

ब्राह्मण ग्रंथ, **महाभारत** में उल्लेख मिलता है, कि प्रारंभ मे न राज्य था, न राजा, न दंड था न दांडिक। लोग अपनी सहज धर्म भावना से परस्पर सुख एवं शांतिपूर्वक निवास करते थे।

कालांतर में इस व्यवस्था की समाप्ति हो गयी तथा लोग स्वार्थी, लोभी तथा विलासी हो गये। समाज में घोर अराजकता फैल गयी। बलवान निर्बलों को उत्पीडित करने लगे। देवता भी यह देखकर घबरा गये तथा उन्होंने इस व्यवस्था से छुटकारा पाने का निश्चय किया। लोग ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानव जाति के कल्याण के निमित एक आचारशास्र बनाकर उसे किसी राजा द्वारा कार्यान्वित कराना आवश्यक है। अतः उन्होंने एक विधान तैयार किया तथा मानस पुत्र विरजस को उत्पन्न कर उसे राजा बना दिया। जनता ने उसकी आज्ञाओं का पालन करना स्वीकार किया। इस प्रकार राज्य तथा राजा की उत्पत्ति हुयी।

बौद्ध ग्रंथ **दीघनिकाय** में वर्णित है, कि समाज में पहले स्वर्णयुग था, जिसमें मनुष्य धैर्यपूर्वक सुखी जीवन व्यतीत करते थे। किसी प्रकार इस आदर्श व्यवस्था का पतन हो गया तथा चतुर्दिक अराजकता एवं अराजकता व्याप्त हो गयी। संयोगवश महाजनसम्मत नामक एक योग्य तथा अयोनिज पुरुष का जन्म हुआ। जनता ने उससे राजा बनने की प्रार्थना की, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप जनता ने राजा बनाया और उसे धान्य का एक भाग कर के रूप में देना स्वीकार कर लिया।

जैन ग्रन्थ आदि पुराण में भी ऐसा ही विवरण मिलता है । इसके अनुसार पृथ्वी अति प्राचीन समय में भोग भूमि थी जहा कल्पवृक्षों के द्वारा सभी जनों कि इच्छाये तथा आवश्यकतायें पूर्ण हो जाती थी कालांतर में इसका अंत हुआ तथा अराजक परिस्थितियों का बोल - बाला हो गया । प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा व्यवस्था स्थापित की गयी । उन्होंने राजा तथा अधिकारीयों कि सृष्टि की ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजा की दैवी उत्पति कि ओर प्रसंगतः संकेत किया गया है । प्रथम अधिकरण के तेरहवे अध्याय में दो गुप्तचरों के बीच वार्तालाप का प्रसंग में इस तथ्य का उल्लेख मिलता है । तदनुसार मात्सन्याय से दुखी होकर प्रजा ने मनु को अपना राजा बनाया। प्रजा ने स्वयं यह विधान बनाया कि राजा प्रजा से कर ले ।

मनुस्मृति में भी राज्य अथवा राजा की दैवी उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। इसके अनुसार इस संसार को बिना राजा के होने पर बलवानों के डर से प्रजा के इधर-उधर भागने पर संपूर्ण चराचर की रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा की सृष्टि की। इंद्र वायु, यम, सूर्य,अग्नि, चंद्रमा तथा कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर उसने राजा को बनाया। मनु आगे लिखते हैं कि बालक राजा का भी यह तो मनुष्य है। ऐसा मानकर अपमान कभी नहीं करना चाहिये,क्योंकि यह राजा के रूप में बहुत बडा देवता होता है। इस प्रकार मनु राज्य (राजा) की दैवी उत्पत्ति के पूर्ण समर्थक हैं।

समझौते का सिद्धांत :-

पाश्चात्य विचारकों **हॉब्स** तथा **लॉक** की भाँति प्राचीन भारतीय चिंतक भी राज्य की उत्पत्ति समझौते द्वारा मानते हैं। महाभारत तथा दीर्घनिकाय के विवरणों से स्पष्ट है, कि विरजस

अथवा महाजनसम्मत प्रजा की सहमति से ही राजा हुये थे। **महावस्तु** नामक बौद्ध ग्रंथ में भी लोगों द्वारा आपसी सहमति से राजा के चुनाव का विवरण प्राप्त होता है। तदनुसार प्रारम्भ में लोग आदर्श का जीवन व्यतीत करते थे । बाद में स्थिति में गिरावट आई तथा परस्पर लोग परिवार एवं सम्पत्ति के लिए संघर्ष करने लगे । अन्ततः उन्होंने अपने बीच के सबसे गुणवान् एवं शक्तिशाली (महासम्मत) को राजा चुना । प्रजा की सहमति से उसे दुर्जनों को दण्डित करने तथा सज्जनों को पुरस्कृत करने का कार्य सौंपा गया । धर्म सूत्रकारों की इस व्यवस्था के पीछे कि- 'राजा अपनी सेवाओं के बदले प्रजा से धान्य का षष्ठांश कर प्राप्त करता है' भी सहमति का भाव अन्तर्निहित है ।

हिन्दू विचारकों का समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त यूरोपीय विचारकों- हॉब्स, लॉक तथा रूसों के सिद्धान्त के समान ही है । किन्तु समझौते अथवा सहमति द्वारा राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त भारतीय विचारकों में अधिक प्रबल नहीं हुआ । संभवतः राज्य की उत्पत्ति के लिये वे इस सिद्धान्त को अनुपयुक्त मानते थे । समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति का उस समाज में संभव है जहाँ लोग एक दूसरे के अधिकारी तथा कर्त्तव्यों का सम्मान करना जानते हों, न कि उस समाज में जहाँ जंगल का राज्य हो । इससे यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि प्रकृति की अवस्था में रहने वाले लोगों में अचानक किस प्रकार आपसी समझौता हो सका । अत: यह सिद्धान्त तार्किक नहीं लगता । कुछ विद्वानों ने राज्य की उत्पत्ति शक्ति अथवा प्रभाव द्वारा समझाने के प्रयास किये हैं । तदनुसार प्राचीन समय में लोगों ने किसी पुरोहित, जिसमें देवताओं को प्रसन्न करने की शक्ति थी, किसी वैद्य जो रोगों को दूर कर सकता था अथवा किसी जादूगर जिसमें चमत्कारिक कार्यों को करने की शक्ति थी, को विशिष्ट अधिकार साँप दिये । ऐसे व्यक्ति अपनी अन्तर्निहित शक्ति के बल पर कालान्तर में अपनी प्रभाव बढ़ाकर राजा वन बैठे । किन्तु इस प्रकार का मत राज्य जैसी संस्था की उत्पत्ति के प्रश्न को पूरी तरह सुलझा नहीं सकता । संभव है कुछ आदिम जातियों में इस प्रकार के तत्व राज्य की उत्पत्ति में सहायक रहे हों ।

ऐतिहासिक सिद्धांत :-

ए.एस.अल्तेकर जैसे विद्वान राज्य की उत्पत्ति का प्रश्न ऐतिहासिक ढंग से हल करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार आर्यजातियों में पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार के बीज से ही क्रमशः राज्य संस्था की उत्पत्ति संभव हुयी। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर पता चलता है, कि अपने मूल-स्थान में रहते हुये भी आर्य लोग संयुक्त परिवारों में रहते थे। इनमें पितामह पिता, चाचा, भतीजे, पुत्र, पुत्रवधू आदि एक साथ निवास करते थे। होमर के विवरण से पता चलता है, कि कभी - कभी एक ही परिवार में दो-तीन सौ तक लोग रहा करते थे। परिवार के स्वामी का उसके सदस्यों पर पूर्ण एवं निरंकुश अधिकार होता था। वह अपनी इच्छा से किसी भी सदस्य को बंधक रख सकता, बेच सकता, अपराध करने पर अंग-भंग कर सकता अथवा उसका

हत्या तक करा सकता था। रोम में परिवार के स्वामी को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। कुछ वैदिक मंत्रों से पता चलता है, कि यहाँ भी परिवार के स्वामी पिता को अपने अधीन सदस्यों के ऊपर इसी प्रकार के अनियंत्रित अधिकार मिले हुये थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर **ऋज्राश्व** का उल्लेख है, जिसकी लापरवाही से उसके पिता की एक - सौ भेडों को कोई भेडिया खा गया था। इस पर क्रुद्ध होकर पिता ने उसे अंधा बना दिया। कालांतर में अश्विनी कुमारों की कृपा से उसे दृष्टि मिली। एक अन्य स्थान पर शुनः शेष की कथा मिलती है, जिसे पिता ने परिवार को भुखमरी से बचाने के लिये बेच दिया।

इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से सिद्ध होता है, कि पिता, राजा की भाँति परिवार के सदस्यों पर शासन करता था। कालांतर में संयुक्त परिवार के विस्तृत होने के साथ ही साथ पिता के अधिकारों में भी वृद्धि हुयी। एक ही गाँव के कई संयुक्त कुल निवास करते थे। जो अपने को समान पूर्वज की संतान मानते थे। जो परिवार सबसे बडा होता था उसका स्वामी अन्य ग्रामवृद्धों की सहायता से गाँव का शासन चलाता था। उसे सभी सम्मान देते थे। ऋग्वेद से सूचित होता है, कि आर्य समाज में **कुटुंब, जन्मन, विश तथा जन** होते थे। **जन्मन** से तात्पर्य उस ग्राम से है, जिसमें समान पूर्वज से अपनी उत्पत्ति मानने वाले परिवार रहते थे। कई ग्रामों का समूह **विश्** कहलाता था, जिसका प्रमुख **विशूपति** होता था। कई विश् मिलकर **जन** का निर्माण करते थे। जन के अध्यक्ष को **जनपति** अथवा **राजा** कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि भारत में भी संयुक्त कुटुंब पद्धति ही राज्य की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हुयी। कुटुंब के विस्तार के साथ - साथ उसके अधिपति के अधिकारों में भी वृद्धि होती गयी तथा अन्ततोगत्वा उसने राजा का स्वरूप धारण कर लिया।

प्राचीन भारत में दंडनीति की अवधारणा :-

निष्पक्ष न्याय व्यवस्था श्रेष्ठ शासन की आधारशीला है । वैदिक साहित्य में वरुण देवता से सम्बंधित ऋचाओं के आधार पर उन्हें तत्कालीन सर्वोच्च नयायाधीश कि संज्ञा दी जा सकती है । वे पापियों को दण्ड देने वाले, प्रायश्चित करने पर क्षमा दृष्टि रखने वाले दूरदर्शी कहे गए है । संभवतः तत्कालीन मान्यता के अनुसार वरुण देवता कि कृपा से राजा द्वारा न्याय करना संभावित था । वैदिक कालीन सभा में भी न्याय होता था । ऋग्वेद के अनुसार न्याय के लिए भूमि, खेल में धोखा, ऋण, उतराधिकार, चोरी, आक्रमण एवं हत्या सम्बन्धी विषयों का समावेश था । द्यूत क्रीड़ा में ऋणी होने पर दास बनने का दण्ड दिया जाता था । संभवतः न्याय की प्रक्रिया सरल थी । ऋग्वेद में ऋषि वसिष्ठ का उदाहरण मिलता है, जिन्होंने कहा था - यदि मै यातुधान (दोषी) हूँ तो मर जाऊ अन्यथा व्यर्थ दोष लगाने वाला मर जाए । ऋग्वेद में मध्यमशी का उल्लेख मिलता है । संभव है वादी एवं प्रतिवादी के बीच मध्यस्था का कार्य करने वाला मध्यमशी हो ।

उतर वैदिक साहित्य में उल्लिखित न्याय सम्बन्धी उदाहरणों में परम्परागत दैवी विश्वासों की झलक मिलती है । उदाहरणतया छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार चोरी करने के अभियोग में अभियोगी को न्यायाधीश के पास ले जाया जाता था । एक लोहे के दहकते हुए परशु को अभियोगी को हाथ में लेना पड़ता था । यदि वह जल जाता था तो उसे मार डाला जाता था, यदि नहीं जलता था तो निर्दोष घोषित किया जाता था । इस प्रकार के दण्ड विधान विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी प्रचलित थे । मेसोपोटामिया (वर्तमान इराक) में अभियोगी को दजला एवं फरात नदियों के तटों पर खड़ा करके उन्हें धकेल दिया जाता था यदि नदी में डूबकर मृत्यु हो गई तो अपराध किया था; बच जाना निरपराधी होने का प्रतिक था ।

दिव्य परीक्षा किसी न किसी रूप में भारत में सुदीर्घकाल तक प्रचलित रही इस तथ्य की चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण से पुष्टि होती है । वैदिक साहित्य में 'वैरदेय' नामक दण्ड का उल्लेख मिलता है जिसके अन्तगर्त हत्या के अभियोगों में 10 गाय से 1000 गाय और एक बैल का दण्ड अपराधी को देना पड़ता था । तैतरीय संहिता में अलग - अलग अपराधों के लिए अलग - अलग दण्ड का विवरण मिलता है । कुछ विद्वान मानते है कि वैदिक न्यायाधीश को 'प्रश्नविवाक' कहते थे । धर्मसूत्रों में न्यायाधीश के लिए 'प्राड्विवाक' शब्द का उल्लेख मिलता है । प्राड् का शाब्दिक अर्थ 'प्रश्नकर्ता' है । विवाक वह है जो सत्य असत्य को खोज निकालता है । अर्थात् प्रश्नों के माध्यम से सत्य एवं असत्य का अन्वेषी प्राड्विवाक अर्थात न्यायाधीश है । उसे विधिनियमो का समुचित ज्ञान रहता था । देश धर्म एवं जाति धर्म से भी सुपरिचित होता था ।

न्याय के अन्तर्गत विधि, दण्ड, व्यवहार आदि शब्दों उल्लेख प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने किया था । विधि वे नियम मने जा सकते हैं जिनका पालन अनिवार्य हो तथा जिनका उल्लंधन किसी न किसी रूप में दण्डनीय हो । मनु के अनुसार वास्तविक शासक दण्ड होता हैं। कात्यायन स्मृति में 'व्यवहार' शब्द के दो अर्थ बताएं गए हैं । एक में व्यवहार का अर्थ विधि अथवा नियम से हैं तथा दुसरे अर्थ में व्यवहार शब्द को तीन भागो में बाँटा गया - 'वि'+ 'अव' + 'हार' । इसमें 'वि' का अर्थ बहुत, 'अव' का अर्थ सन्देह तथा 'हार' का अर्थ हटाना है । अर्थात् जिसके द्वारा विविध प्रकार के सन्देह दूर किये जा सकें वह ब्यवहार है ।

प्राचीन काल में न्यायालयों के लिए धर्मासन, धर्मस्थान तथा धर्माधिकरण आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । स्थूल रूप से न्यायालयों के दो प्रकार थे :

1. राज - न्यायालय,
2. विभिन्न प्रकार के अन्य न्यायालय ।

राज - न्यायालय वह सभा थी जहाँ राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था । अन्य प्रकार के न्यायालयों को क्षेत्रीय न्यायालय कहा जा सकता है जो क्रमानुसार छोटे - बड़े स्तर के होते थे । राज - न्यायालय के भी दो रूप थे । एक में वह स्वयं मुख्य न्यायाधीश के रूप में उपस्थित होता था । दुसरे में वह किसी कारणवश स्वयं उपस्थित न हो सकने कि स्थिति में किसी योग्य

ब्यक्ति को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त कर देता था। स्मृतियों में राज - न्यायालय का विस्तृत विवरण मिलता है।

बृहस्पति ने चार प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है :

1. प्रतिष्ठित, 2. अप्रतिष्ठित, 3. मुद्रित, 4. शासित ।

किसी ग्राम या नगर में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित न्यायालय होते थे । अप्रतिष्ठित न्यायालय अनेकों ग्राम में समय - समय पर अवस्थित होते थे । मुद्रित न्यायालयों में राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश होते थे । वे राज मुद्रा का प्रयोग कर सकते थे । शासित न्यायालय में राजा स्वयं उपस्थित रहता था ।

विभिन्न प्रकार के अन्य न्यायालयों में राज सम्मानित **कुल, श्रेणी, पूग एवं गण** के अपने न्यायालय थे जिन्हें सीमित क्षेत्र में न्याय करने का अधिकार था । कुल न्यायालय में परिवारों के पारस्परिक झगड़ो का निपटारा किया जाता होगा ।

राज्य सम्मत ब्यापारिक संगठन जो एक ही प्रकार की वृति करते थे, **श्रेणी** कहलाते थे । इसमें ब्यापारी अलग - अलग जातियों के भी होते थे । समय के साथ श्रेणियों की संख्या में वृद्धि होती गयी । मनु द्वारा श्रेणी धर्म अर्थात् श्रेणियों के नियमों एवं परम्पराओं को उनके विवादों को सुलझाने हेतु मान्यता प्रदान कि गयी है। यज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजा का कर्तव्य था कि वह इन समूहों (श्रेणी, निगम, पाषण्ड, गण आदि) के धर्मो (नियमों, परम्पराओं) की सुरक्षा करें । उन्होंने इन संघो के नियमों के समकक्ष रखा है । संघों को अपने अयोग्य अधिकारीयों को दण्ड देने का अधिकार था । नारद के अनुसार श्रेणियों कि परम्पराओं एवं धार्मिक नियमों को बनाये रखना राजा का कर्तव्य था । बृहस्पति के अनुसार श्रेणियों के अध्यक्ष की सहायता हेतु दो तीन अथवा पाँच अधिकारी होते थे । उन्हें वेदों का ज्ञाता, इमानदार, कर्तव्य को जानने वाला, उच्चवंशी तथा बुद्धिमान होना आवश्यक था । हिंसा से सम्बंधित विवादों में राजकीय हस्तक्षेप रहता था । बृहस्पति द्वारा निर्देशित नियमों के अनुसार श्रेणी प्रमुख द्वारा दण्डित ब्यक्ति को राजा के पास अपील करने आधिकार था । श्रेणी प्रमुख द्वारा घृणाव्रश अपने समुदाय के किसी भी ब्यक्ति को पीड़ा पहुँचाने पर रजा उसे दण्डित करने का अधिकारी था क्योंकि वे राजा द्वारा ही मान्यता प्राप्त करते थे । शुक्र के अनुसार :- "साहस व स्तेय आदि हिन्सामुलक कृत्यों को छोड़कर राजा द्वारा कुल, श्रेणी, गण के लोगों को अपने अन्य विवादों को स्वयं देखने का अधिकार दिया जाना चाहिए । कुल द्वारा उचित निर्णय न होने पर श्रेणी, श्रेणी द्वारा उचित निर्णय न होने पर गण एवं गण द्वारा उचित निर्णय न होने की स्थिति में राजा के न्यायालय में अपील की जा सकती थी ।" प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि श्रेणियों को न्यायालय सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे । सामान्यतः उनके पारस्परिक झगड़े निजी न्यायालयों में तय कर लिए जाते थे । विशिष्ट परिस्थितियों विशेषकर हिंसाजन्य अपराधों में राज न्यायालय द्वारा उनके झगड़ों का निपटारा होता था ।

'पूग' एक ही ग्राम या बस्ती में रहने वाली विभिन्न जातियों एवं विभिन्न वृतियां करने वालों के समुदाय को कहते थे । कुछ विद्वानों ने पूग एवं गण को समानार्थी माना है, जबकि

कात्यायन के अनुसार पूग 'कुलों का संघ' है तथा गण 'ब्यापारियों का संघ' है । अनेक स्मृतिकारों के अनुसार श्रेणी के न्यायलयों कि अपेक्षा पूग - गण बड़े न्यायालय थे । संभवतः ग्रामों एवं नगरों के झगड़े पूग - गण न्यायालयों में तय के लिए जाते होंगे ।

रामायण में उल्लेख है कि साधारणतः स्त्री और पुरुष दोनों ही सामान रूप से कार्यार्थी बनकर राजकीय न्यायालय में आ सकते थे । **महाभारत** के शांतिपर्व में वर्णित न्याय सम्बन्धी विवरणों से विदित होता है कि राजा को सर्वप्रथम स्वयं नैतिक आचरणों का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए । उसे अपने निकटतम सम्बन्धियों को भी अपराध करने पर दण्डित करना चाहिए ।

जातक कथाओं के अध्ययन से तत्कालीन न्याय के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकले जा सकते है । गामणी चण्ड जातक को कथा के आधार पर कहा जा सकता है कि कुछ जनपदों में राजा अकेले न्याय करते थे । झूठ बोलने पर जीभ काट लेने का दण्ड दिया जा सकता था । अनेक जनपदों में ग्राम के मुखिया न्याय करते थे । धर्मानुसार न्याय करने वाले ग्राम मुख्यों को उपहार एवं यश मिलता था । न्याय में पक्षपातपूर्ण आचरण करने पर वे अपयश के साथ - साथ राजदण्ड के भागी होते थे ।

बौद्ध साहित्य विनयपिटक में न्याय व्यवस्था का कार्य करने वाले व्यवहारिक महात्म्य एवं विनिश्चयमहामात्य के उल्लेख मिलते है । कुशीनगर के मल्लों की गणतंत्रात्मक शासन पद्धति में मल्लों ने सार्वजानिक दण्डविधान कि योजना बनायी थी, इसके अनुसार जो व्यक्ति भगवान बुद्ध से मिलने नहीं जायेगा उसे 500 मुद्राओं का दण्ड देना होगा । बौद्धकालीन न्यायालयों में राजा का न्यायालय, उपराज, सेनापति, अष्टकुल, सूत्रधार, व्यावहारिक तथा विनिश्चयामात्य के न्यायलयों के उल्लेख मिलते है । इनकी कार्यपद्धति के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है :

(i) कण्टकशोधन (फौजदारी से सम्बंधित)

(ii) धर्मस्थायी (दीवानी न्यायालय)

दोनों न्यायालयों में तीन - तीन न्यायाधीश एक साथ बैठकर न्याय करते थे । कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहा जाता था । धर्मस्थायी न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ कहलाते थे । अपराधी का पाता लगाने में गुप्तचरों (गुढपुरुषों) कि सहायता ली जाती थी । अपराध की स्वीकारोक्ति हेतु अपराधी को पीड़ित किये जाने के विवरण मिलते है । न्यायाधीशों को न्याय में विलम्ब करने अथवा अनुचित निर्णय देने पर अर्थदण्ड का भागी होना पड़ता था । दीवानी न्यायालय प्रजा कि सुविधा हेतु राज्य के विभिन्न भागों में कार्य करते थे । अर्थशास्त्र में इनके संग्रहण (दस ग्रामों के बीच), द्रोणमुख (चार सौ ग्रामों के बीच) तथा जनपद सन्धि (जहाँ दो जिले परस्पर मिलते थे) के नगरों में होने का विवरण मिलता है ।

मेगास्थनीज के विवरण के अनुसार राजा आबनूस की बनी लकड़ी के बेलन से अपने शारीर की मालिश करवाते समय भी न्याय करता था । झूठी गवाही देने वाले को अंग - भंग का दण्ड दिया जाता था । प्रायः अपराधी का वही अंग काटा जाता था जिसको काटने का उस पर

आरोप होता था । अशोक के लेखों से ज्ञात होता है कि वह समस्त प्रजा के प्रति यहाँ तक कि अपराधी के प्रति सहानुभूति रखते हुए उसे सन्मार्ग पर लाने कि चेष्टा करता था । चौथे स्तम्भ लेख के अनुसार उसने राजुक नामक कर्मचारियों की नियुक्ति लाखों मनुष्यों पर कि थी। उनका सन्देश था कि राजुक न्याय करते समय व्यवहार समता रखे और दण्ड देने में पक्षपात न करें ।

गुप्तकाल की न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में चीनी यात्री फाह्यान के विवरण से विदित होता है कि गुरुतर अपराधों के लिए सामान्यतया अर्थदण्ड दिया जाता था । राजद्रोह करने अथवा उसे बार - बार दोहराने पर दाहिना हाथ काट लिया जाता था । न्यायालयों के नाम, स्वरुप, न्याय सम्बन्धी अधिकारीयों आदि के विषय में गुप्तकालीन साहित्य में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है । नगरों के राजकीय न्यायालय धर्मासनाधिकरण कहे जाते थे । न्याय व्यवस्था से सम्बंधित अधिकारियों के नाम दाण्डिक, चौरोद्धरणिक, दण्डपाशिक आदि मिलते है । मृच्छकटिकम् नाटक से विदित होता है कि नगर के न्यायालय को अधिकरणमण्डप कहा जाता था । न्यायाधीश को अधिकरणिक कहते थे । **चोल** शासकों के अभिलेखों में न्यायालय के लिए 'ओलै' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

प्राचीन भारत में नयायनिर्णय के कुछ मुलभुत सिद्धान्तों की जानकारी मिलती है। न्याय में विलम्ब अथवा पक्षपात करना दण्डनीय माना जाता था । शासन के अधिकारियों को न्यायाधिकारियों के कार्य में हस्तक्षेप करना अनुचित माना जाता था ।

मनु ने पाँच प्रकार के दण्डों का उल्लेख किया है - जुर्माना, कारावास, देशनिष्कासन, अंगविच्छेद एवं प्राणदण्ड । अपराध की गहनता को देखते हुए दण्ड दिए जाते थे । मनु ने दो प्रकार के चोरों का उल्लेख किया है - प्रकाश एवं अप्रकाश । उनमे उत्कोचक (घुस लेने वाले), उपधिक (डांटकर छिनने वाला) वंचक, कितव (जुआरी), मंगलादेशवृत (दूसरों का मंगल बताकर जीविका चलने वाले), धूर्त, वेश्याएं आदि प्रकाश चोर कि कोटि में है । अप्रकाश चोर रात्रि में चोरी करने वाले चोर थे । राजा का कर्तव्य है कि समाज में ईन दोनों प्रकार के चोरों को समुचित दण्ड दे । अलग - अलग अपराधों के लिए अलग - अलग दण्डों का विवरण मनुस्मृति में विस्तार से मिलता है । उच्चवर्ण के लोगों पर हीन वर्ण के लोगों कि अपेक्षा चोरी के लिए अधिक अर्थदण्ड लगाया जाता था । जिस चोरी के लिए शुद्र चोर पर वस्तु के मूल्य का 8 गुना दण्ड लगता था, उसके लिए वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण चोर पर क्रमशः 16 गुना, 32 गुना और 64 गुना दण्ड लगता था ।

कल्हण की राजतरंगिणी में दण्ड के कुछ विलक्षण स्वरूपों का वर्णन मिलता है । कश्मीर के राजा उच्चल ने अपराधियों को चारणों जैसे वस्त्र पहनाकर भरी सड़क पर ड्रमों कि तरह दौड़ाने का नियम बनाया था । सार्वजनिक रूप से चोरों का उपहास कराया जाता था । कुछ अपराधियों को भड़कीले वस्त्र पहनाकर भडुओं के मध्य नचाया जाता था ।

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में वकीलों के सम्बन्ध में अधिक प्रमाण नहीं मिलते । **मिलिन्दपञ्हो** में 'धम्मपणिक' शब्द का प्रयोग संभवतः वकील के लिए किया गया है ।

नारदस्मृति पर असहाय की टीका में वकील का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहाँ एक विधि का ज्ञाता एक ऋणी को आश्वासन देता है कि उसे महाजन को ऋण चुकाने कि आवश्यकता नहीं है। यदि वह उसे 1000 द्रम्म (मुद्रा) देगा तब वह न्यायालय से उसके अनुरूप निर्णय प्राप्त करेगा। शुक्र के अनुसार यदि वादी या प्रतिवादी धर्मनियम न जानने या अन्य कार्यों में व्यस्ततावश अपना मामला समुचित रूप से नहीं चला सकते थे तब उनके लिए एक प्रतिनिधि की नियुक्ति कि व्यवस्था थी, उसे नियोगी कहते थे।

प्राचीन भारत के राज्य के प्रकार (Types of Ancient Indian States):

प्राचीन भारत में सामान्यत राजतन्त्र का ही प्रचलन था जिसके शासन सत्ता एक वंशानुगत राजा के हाथ में होती थी। किन्तु प्राचीन साहित्य एवं विदेशी लेखकों के विवरण से इस बात की सूचना मिलती है कि राजतन्त्रात्मक राज्यों के साथ ही साथ प्राचीन इतिहास के विभिन्न युगों में कुछ अन्य प्रकार के राज्य भी थे।

इनका विवरण इस प्रकार है :-

(i) गण अथवा संघ राज्य - इसमें शासन-सूत्र एक आनुवंशिक राजा के हाथ में न होकर गण अथवा संघ के हाथ में होता था। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के राज्य को 'वैराज्य' की संज्ञा प्रदान की गयी है। सिकन्दर के आक्रमण के समय सिन्ध तथा पंजाब तथा बुद्धकाल में गंगाघाटी के मैदानों में कई गणराज्य विद्यमान् थे। इनमें मालव अर्जुनायन, लिच्छवि, मद्रक, शाक्य, मोरिय आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसका शासन एक केन्द्रीय समिति अथवा संस्थागार के माध्यम से संचालित होता था।

(ii) द्वैराज्य - इससे तात्पर्य उस राज्य से हैं जिसमें एक ही साथ दो राजाओं का शासन होता है। यूनान के नगर स्पार्टा में इस प्रकार का शासन था। यूनानी लेखकों के विवरण से पता चलता है कि सिकन्दर के भारत-आक्रमण के समय पाटल (सिन्ध) में इस प्रकार का शासन-तन्त्र प्रचलित था। अल्लेकर का विचार है कि जब दो भाइयों अथवा उत्तराधिकारियों ने राज्य का वँटवारा करने के स्थान पर सम्मिलित रूप से शासन करना पसन्द किया हो, तभी द्वैराज्य का सूत्रपात होता होगा। किन्तु इस प्रकार का शासन टिकाऊ नहीं रहा तथा ये राज्य गुटवन्दी और आपसी संघर्ष के केन्द्र रहे होंगे।

अर्थशास्त्र में कहा गया है कि द्वैराज्य परस्पर संघर्ष में नष्ट हो जाता है। जैन ग्रंथ साथ आचारांगसूत्र में भिक्षुओं को सलाह दी गयी है कि वे ऐसे राज्यों में न जायें। द्वैराज्य के दोनों शासक जब परस्पर मेल से रहते थे तो वह औराज्य तथा जब उनमें परस्पर संघर्ष होता था तो वह 'विरुद्ध राज्य' कहा जाता था।

(iii) नगर-राज्य - इसमें किसी प्रमुख नगर को राजधानी बनाकर समीपवर्ती भागों पर शासन किया जाता था। ऐसे राज्यों का प्रचलन प्राचीन यूनान में अधिक था। यूनानी लेखों के विवरण से सूचित होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय पश्चिमोत्तर भारत में भी कुछ राज्य उसी

प्रकार के थे । न्यासा, शिवि, संगल, पिम्प्रमा आदि कुछ नगर राज्य यहाँ विद्यमान थे । एरियन हमें बताता है कि सिकन्दर ने न्यासा से एक-सी प्रमुख नागरिकों के बन्धक में रूप में माँगा था जिस पर वहाँ के शासक ने यह कहते हुये अपनी असमर्थता व्यक्त किया था कि इतने नागरिकों के छिन जाने से नगर क शासन ठप्प पड़ जायेगा । इसमें स्पष्ट है कि यहाँ नगर राज्य था ।

(iv) संघीय तथा संयुक्त राज्य - प्राचीन भारत में संघीय अथवा सम्मिलित राज्यों के अस्तित्व के भी प्रमाण मिलते हैं । उत्तर वैदिक युग में कुरु-पञ्चाल राज्यों का एक संघ था । सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में मालव तथा क्षुद्रक गणों का संघ राज्य था । यौधेय गणराज्य में भी तीन राज्य सम्मिलित थे । बुद्धकाल में वज्जिसंघ तथा मल्लसंघ जैसे शक्तिशाली राज्य स्थापित हुये थे । जैन ग्रंथों से पता चलता है कि लिच्छवि प्रमुख चेटक ने मगधराज अजातशत्रु का सामना करने के लिये नौ लिच्छवियों, नौ मल्लों तथा कहच्चिनेशल के 18 राजाओं का संघ-स्थापित किया था । संघीय राज्यों की शासन-पद्धति के विषय में हमें ज्ञात नहीं है । सम्भवत: समान शक्तिशाली शत्रु का सामना करने के उद्देश्य से इस प्रकार के राज्य संगठित होते थे ।

इस प्रकार प्राचीन भारत में हमें विभिन्न श्रेणी के राज्यों के अस्तित्व दिखाई देते हैं । इनमें सर्वाधिक मान्य एवं प्रचलित व्यवस्था राजतन्त्र ही थी । अति प्राचीन काल से राजा को ही सत्ता का स्त्रोत माना गया तथा यह मान्यता थी कि समस्त अधिकारी तथा संस्थायें उसी से अधिकार ग्रहण करते है ।